अनुसन्धान क्यों और कैसे?

मेरे बंधुओं!

सबको नमन, प्रणाम, आर्शीवाद देते हुए मैं आपसे अनुरोध करना चाह रहा हूँ - यह अनुसंधान क्यों और कैसे हुआ? उसके पहले मुझे यह भी बताने को कहा गया है - यथास्थिति से मुझे क्या परेशानी थी? मैं मानता हूँ, यहाँ पर जितने भी बंधू-जन उपस्थित हैं, वे ध्यान से सुनेंगे, और फ़िर अपने विचार व्यक्त करेंगे।

यथास्थिति यह है - "हम इस धरती पर जो आदमी-जात हैं, वे ज्ञानी, विज्ञानी, अथवा अज्ञानी में गण्य हैं।" यह मेरा कथन आप लोगों को कितना अनुकूल है, या प्रतिकूल है - यह आप आगे बताएँगे। हम ज्ञानी, विज्ञानी, और अज्ञानी मिल कर इस धरती पर जो कुछ भी किए - उसके फलन में पहले वन-सम्पदा समाप्त हो गयी, दूसरे - खनिज-सम्पदा समाप्त हो गयी। इन दोनों के समाप्त होने से यह धरती रहने योग्य नहीं बची - ऐसा विज्ञानी लोग कह रहे हैं। ये सब बात हम लोग सुनते ही हैं। इस पर आगे सोचने पर स्वयं-स्फूर्त रूप में यह बात आती है - हमने जो कुछ भी किए उससे यह धरती रहने-योग्य नहीं बची, अब यह रहने-योग्य बने उसके लिए भी कुछ सोचें! धरती मनुष्य के रहने योग्य कैसे बने - उस पक्ष में मैंने काम किया है।

धरती पर मनुष्य रहने योग्य कैसे बने - उसके लिए मैं अनुसंधान किया हूँ। मेरे अनुसंधान का उद्देश्य इतना ही है। इस अनुसंधान पूर्वक मैंने जो पाया, उसको स्पष्ट करने का कोशिश किया है। यह स्पष्ट हुआ या नहीं हुआ - यह आप ही लोग शोध करके बताएँगे। हर व्यक्ति को शोध करने का अधिकार है, समझने का अधिकार है, उस पर अपने विचारों को व्यक्त करने का अधिकार है। आज पैदा हुए बच्चे में यह अधिकार है, कल मरने वाले वृद्ध में भी यह अधिकार है।

प्रकारांतर से चलते हुए वर्तमान में हम मानव-जाति अपराध में फंस गए हैं। इससे पहले हमारे बुजुर्गों ने वेद-विचार में लिख कर दिया है - "भक्ति-विरक्ति में कल्याण है।" भौतिकवाद जब आया तो पहले से ही प्रलोभन से ग्रसित मनुष्य-जात "सुविधा-संग्रह" में फंस गया। सुविधा-संग्रह के चलते इस धरती से वन और खनिज दोनों समाप्त होते गए। वन और खनिज समाप्त होने से ऋतु-संतुलन प्रतिकूल होता गया। और धीरे-धीरे धरती बीमार हो गयी।

विज्ञानी यह बता रहे हैं - धरती का तापमान कुछ अंश और बढ़ जाने पर इस धरती पर आदमी रहेगा नहीं। सन १९५० से पहले यही विज्ञानी बताते रहे - यह धरती ठंडा हो रहा है। सन १९५० के बाद बताना शुरू किए - यह धरती गर्म हो रहा है। यह कैसे हो गया? इसका शोध करने पर पता चला

- इस धरती पर सब देश मिल कर २००० से ३००० बार nuclear tests किए हैं। ये test इस धरती पर ही हुए हैं। इन tests से जो ऊष्मा जनित होते है - उसको नापा जाता है। यह जो ऊष्मा जनित हुआ, वह धरती में ही समाया या कहीं उड़ गया? यह पूछने पर पता चलता है - यह ऊष्मा धरती में ही समाया - जिससे धरती का ताप बढ़ गया। धरती को बुखार हो गया है। अब और कितना ताप बढेगा उसका प्रतीक्षा करने में विज्ञानी लगे हैं। इसके साथ एक और विपदा हुआ - प्रदूषण का छा जाना। ईंधन-अवशेष से प्रदूषण हुआ। इन दोनों विपदाओं से धरती पर मनुष्य रहेगा या नहीं - इस पर प्रश्न-चिन्ह लग गया है।

धरती को मनुष्य ने अपने न रहने योग्य बना दिया। मनुष्य को धरती पर रहने योग्य बनाने के लिए यह अनुसंधान है।

"न्याय पूर्वक जीने" की प्रवृत्ति मनुष्य में कैसे स्थापित हो - उसको मैंने अनुसंधान किया है। न्याय पूर्वक जीने में मैं स्वयं प्रवृत्त हूँ। न्याय किसके साथ होना है? मनुष्य के साथ होना है, और मनुष्येत्तर-प्रकृति के साथ होना है। इसके बारे में हम थोड़ा यहाँ बात-चीत करेंगे।

मैं स्वयं एक वेद-मूर्ति परिवार से हूँ। मेरे शरीर का आयु इस समय ९० वर्ष है। इन ९० वर्ष में से पहले ३० वर्ष मैंने अपने घर-परिवार की परम्परा के अनुसार ही काम किया। ३० वर्ष के बाद के ६० वर्ष मैं इस अनुसंधान को करने और उससे प्राप्त फल को मानव-जाति को अर्पित करने में लगाया हूँ।

यह अनुसंधान कैसे किया? - यह बात आती है। हमारे शास्त्रों में लिखा है - अज्ञात को ज्ञात करने के लिए समाधि एक मात्र स्थान है। उस पर विश्वास करते हुए, अमरकंटक को अनुकूल स्थान मानते हुए, मैं १९५० में अमरकंटक पहुँचा। अमरकंटक में मैंने साधना किया, और समाधि को देखा। समाधि को देखने पर पता चला - समाधि में कोई ज्ञान नहीं होता। समाधि में मैंने अपनी आशा, विचार, और इच्छा को चुप होते हुए देखा। एक-दो वर्ष तक मैंने समाधि की स्थिति को देखा - पर समाधि में ज्ञान नहीं हुआ।

उसके बाद समाधि का मूल्यांकन करने के क्रम में मैंने संयम किया - जिससे प्रकृति की हर वस्तु मेरे अध्ययन में आयी। अस्तित्व स्वयं सह-अस्तित्व स्वरूप में है - यह बात मुझको बोध हुआ, ज्ञान हुआ, उसको जी कर के प्रमाणित करने की अर्हता आयी। ऐसे ज्ञान को जी कर के प्रमाणित करने में परस्परता में विश्वास होता है। जीने में ही विश्वास होता है, बस कहने मात्र से विश्वास नहीं होता। ऐसा मैंने स्वीकार किया। इस प्रकार जीते हुए लोगों तक इस बात को कैसे पहुंचाया जाए? इस पर सोचने पर शिक्षा-विधि द्वारा इसे प्रवाहित करने के उद्देश्य से वांग्मय तैयार किया।

अनुसंधान पूर्वक क्या उपलब्धि हुई? अनुसंधान की उपलब्धि है - समाधान। सभी आयामों, कोणों, परिपेक्ष्यों के लिए समाधान उपलब्ध हुआ। अनुसंधान पूर्वक मेरा स्वयं का अच्छी तरह समाधान-पूर्वक जीना बन गया। समाधान को जब प्रकाशित करने लगे तो लोगों को लगने लगा - हमको भी चाहिए, हमको भी चाहिए... ऐसा होते-होते हम यहाँ तक पहुंचे हैं।

समाधान के साथ यदि "समृद्धि" नहीं है तो हम प्रमाणित नहीं हो सकते - यह भी बात आया। समृद्धि का प्रयोजन है - शरीर पोषण, संरक्षण, और समाज-गति। सम्पूर्ण भौतिक-वस्तुओं का मानवीयता पूर्वक नियोजन इन्ही तीन स्थितियों में है। विज्ञानं द्वारा हम दूर-श्रवण, दूर-दर्शन, दूर-गमन संबन्धी वस्तुओं को जो हम पाये - उनसे अतिव्याप्ति, अनाव्याप्ति दोष हो गया। जिस के पास नहीं है - उसके पास नहीं ही रहा। जिसके पास है - उसके पास बहुत ज्यादा हो गया। इसके रहते उत्पादन-कार्य का नियंत्रण नहीं रहा। उत्पादन अनियंत्रित होने के फलन में धरती बीमार हो गयी। आदमी के बने रहने पर प्रश्न-चिन्ह लग गया। धरती बीमार हो गयी तो आदमी कहाँ रहेगा? आगे पीढी कहाँ रहेगा? यह भी सोचने का मुद्दा है। केवल आदमी को ही अपराध-मुक्त होने की आवश्यकता है। अपराध-मुक्त होने के लिए आदमी को सह-अस्तित्व में जीने की आवश्यकता है। आदमी को तीनो अवस्थाओं के साथ नियम, नियंत्रण, संतुलन पूर्वक जीने की आवश्यकता है।

स्वयं में जो बोध हुआ, अनुभव हुआ - उसको जीने के क्रम में हम दूसरों को बोध कराते हैं। इसका हमने काफी अभ्यास किया - जिसके फलस्वरूप देश में दूर-दूर तक एक आवाज सुनाने योग्य तो हुए। इस बात की आवाज तो सुनने में आया है - इसमें तो कोई दो राय नहीं है। इसके बाद कुछ लोगों में इसको अध्ययन करने की इच्छा भी हुई है। अभी इस प्रस्ताव के अध्ययन में लगे ज्यादा से ज्यादा लोग रायपुर में हैं। छत्तीसगढ़ राज्य-शिक्षा के तीनो विभाग - व्यवस्था, प्रशिक्षण, और शोध - ये तीनो मिल कर अध्ययन कर रहे हैं। करीब १०० लोग अध्ययन कर रहे हैं। हर आदमी स्वयं को प्रमाणित करने का अधिकार रखता है। हर बच्चे, बड़े, बुजुर्ग - स्वयं को प्रमाणित करने के अधिकार से संपन्न हैं। यह स्वीकारते हुए इस प्रस्ताव की शिक्षा-पद्दति को हमने नाम दिया - "चेतना-विकास - मूल्य-शिक्षा"। "चेतना-विकास - मूल्य-शिक्षा" के लिए ये लोग अध्ययन कर रहे हैं, और स्वयं को प्रमाणित करने के लिए कटि-बद्ध हैं। यहाँ हैदराबाद में भी काफी विद्वान ऐसा सोचते होंगे। इन सबको ध्यान में रखते हुए इस प्रस्ताव की उपयोगिता हमको समझ आता गया। जैसे-जैसे उपयोगिता समझ आता गया - हमारा उत्साह भी बढ़ता गया! उत्साह बढ़ता गया तो मेरा स्वस्थ रहना भी बन गया। जल्दी शरीर त्यागने की आवश्यकता नहीं है, कुछ दिन और देख लें इसका क्या फल-परिणाम होता है। इस तरह ९० वर्ष व्यय्तीत हुए हैं। जब तक साँस चलती है, इस प्रस्ताव का क्या प्रयोजन सिद्ध होता है - यह देखा जा सकता है। आगे आप सब प्रयोजनों को देखने के लिए उम्मीदवार हो ही सकते हैं, प्रयत्नशील हो सकते हैं, प्रयोजनों को प्रमाणित कर सकते हैं।

इस अनुसंधान को करने में (समाधि-संयम में) हमने २५ वर्ष लगाए। अनुसंधान की उपलब्धि के अनुरूप अपने जीने के तौर-तरीके को बनाने में १० वर्ष लगाए। उसके बाद संसार को इस प्रस्ताव की ज़रूरत है या नहीं - इसका सर्वेक्षण करने में १० वर्ष लगाए। संसार को इस प्रस्ताव की ज़रूरत है - यह निर्णय होने पर सन २००० से इसको लोगों तक पहुँचाना शुरू किए। सन २००० से अभी तक कितना काम हुआ है - यह अभी आप इस सम्मलेन में देख ही रहे हैं।

मेरे अनुसंधान की उपयोगिता समझ आने पर मेरी आवाज में भी थोड़ा बल आया। इससे यह कहना बना - **"अपराधों से सहमत हो कर हम इस धरती पर ज्यादा दिन रह नहीं पायेंगे।"** दूसरी बात - **"समझदारी से समाधान-संपन्न हो कर हम इस धरती पर चिरकाल तक रह सकते हैं।"**

समझदारी के लिए अध्ययन के स्वरूप को हमने शिक्षा-विधि से प्रस्तुत किया है। इस प्रस्ताव के लोकव्यापीकरण में संलग्न विभूतियों का यह सोचना है - "जीवन-विद्या से शुरू किया जाए - और अध्ययन में प्रवृत्ति पैदा किया जाए।" जीवन-विद्या की भनक तो देश के सभी प्रान्तों में करीब-करीब पहुँच गया है। इस सम्मलेन में यह पता चलता है - किस प्रांत में कितनी भनक पडी। इस बात को हम दूर-दूर तक पहुंचाने के योग्य हुए। लोगों तक पहुंचाने के क्रम में हममें संतुष्टि बनी हुई है। इस संतुष्टि को व्यक्त करने के क्रम में यह सम्मलेन है। सम्मलेन में परस्पर-चर्चा से पता चलता है - संसार में इस अनुसंधान की ज़रूरत है, समझदारी की ज़रूरत है, समाधान की ज़रूरत है, समृद्धि की ज़रूरत है।

अब हम इस अनुसन्धान के प्रयोजन की बात करेंगे।

हर मनुष्य के पास कल्पनाशीलता और कर्म-स्वतंत्रता पूंजी के रूप में है। हर बच्चे के पास है, हर बड़े के पास है, हर बुड्ढे के पास है - उसका वह प्रयोग कर सकता है। कल्पनाशीलता के आधार पर कर्म-स्वतंत्रता का प्रयोग मनुष्य ने आज तक किया है। इस कमरे का छत जो बना है - वह कल्पनाशीलता के आधार पर बना है। जहाँ हम बैठे हैं - वह स्थान कल्पनाशीलता के आधार पर बना है। जो गाडी में हम घुमते हैं, हवाई-जहाज से आकाश में घूमते हैं - वह कल्पनाशीलता के आधार पर बना है। कल्पनाशीलता के आधार पर ही हम "सुविधा-संग्रह" को अपनाए हैं। हर मनुष्य पास यह कल्पनाशीलता कर्म-स्वतंत्रता उपलब्ध है। जीवन और शरीर के योगफल में कल्पनाशीलता और कर्म-स्वतंत्रता प्रगट होती है। मरे हुए आदमी में यह प्रगट नहीं होती है। जीवन हो पर शरीर न हो - तब भी यह प्रगट नहीं होगी। शरीर हो पर जीवन न हो - तब भी यह प्रगट नहीं होगी।

कल्पनाशीलता और कर्म-स्वतंत्रता कैसे आ गया? "सह-अस्तित्व नित्य प्रगटन-शील है" - इस

सिद्धांत पर यह आधारित है। **सह-अस्तित्व नित्य प्रगटन-शील होने से अपने प्रतिरूप को मानव-स्वरूप में प्रस्तुत कर दिया।** धरती पर प्रगट होने के बाद मानव अपराधी हो गया। मुख्य बात इतना ही है। चोट की बात इतना ही है। इस चोट की बात को ध्यान में लाने पर हम अच्छी तरह से समझ सकते हैं - **मानव-जाति का अपराध-मुक्त होना नितांत आवश्यक है।**

यह बात बच्चे भी समझ सकते हैं, बड़े भी समझ सकते हैं। बिजनौर में एक स्कूल में इस बात को लेकर हमने एक प्रयोग किया - जिससे बच्चों में जो गुण प्रकट हुए, उससे बड़े-बुजुर्ग भी अपनी आदतों को सुधारने लगे। बच्चों के मुखरण से वहाँ के आगंतुक भी बहुत विस्मित हुए। वह स्कूल आगे चल नहीं पाया - क्योंकि जिस व्यक्ति ने जमीन दी थी, उसने वापिस ले ली। उसके बाद अछोटी के पास गाँव के स्कूल में प्रयोग किया तो वैसे ही विद्यार्थियों में मुखरण हुआ। वह मुखरण छत्तीसगढ़ शासन की दृष्टि में आ गया। यह शासन के ध्यान-आकर्षण होने का आधार बन गया। जिसके फलस्वरूप ३०००-४००० अध्यापकों के लिए ३ दिन का गोष्ठी हुआ। यह घटना आप के दृष्टिकोण के लिए ध्यान में ला सकते हैं। इतना दूर तो हम आ चुके हैं। पर आगे इसकी सम्भावना बहुत लम्बी-चौड़ी हैं।

"हर मानव सुधर सकता है." - यह इस बात से पहली सम्भावना है। हर मानव सुधर कर अपने सुधार को प्रमाणित कर सकता है। इस सम्भावना के विस्तार को क्या नापा जा सकता है? हर मनुष्य के सुधरने पर क्या होगा? जैसे हर गाय अपने वंश के अनुसार गायत्व के साथ व्यवस्था में जीता है... जैसे हर वृक्ष अपने बीज के अनुसार वृक्षत्व के साथ व्यवस्था में रहता है... उसके पूर्व जैसे हर पदार्थ परिणाम के अनुसार अपने त्व सहित व्यवस्था में रहता है... उसी प्रकार मानव सुधरने के बाद मानवत्व सहित व्यवस्था में जी सकता है।

इस अनुसंधान पूर्वक "मानव का अध्ययन" सम्भव हो गया है। अभी तक "मानव का अध्ययन" शून्य था। "मानव का अध्ययन" छोड़ कर आदर्शवाद भागा, और भौतिकवाद भी भाग ही रहा है। आदर्शवाद और भौतिकवाद मानव का अध्ययन नहीं करा पाये। यह अभिशाप मानव-जाति पर लगा हुआ है। मानव का अध्ययन न होने से मनमानी विचार-धाराएं निकली, मनमानी व्यवस्थाएं निकली। एक ही परिवार में बीस मतभेद निकले। इस तरह नर-नारियों में समानता का रास्ता नहीं निकला, दूसरे - अमीरी-गरीबी में संतुलन नहीं बन पाया। गरीब और ज्यादा गरीब होते गए। अमीर और अमीर होते गए। नर-नारियों में समानता और अमीरी-गरीबी में संतुलन के लिए "अच्छे" ढंग से भी जो प्रयोग हुए, "बुरे" ढंग से भी जो प्रयोग हुए - दोनों बुरे में ही अंत हुए। इस तरह मानव-जाति के उद्धार का रास्ता बना नहीं। अब इस अनुसन्धान पूर्वक नर-नारियों में समानता का भी सूत्र निकलता है, अमीरी-गरीबी में संतुलन का भी सूत्र निकलता है।

नर-नारियों में समानता समझदारी के आधार पर आता है। हर नर-नारी में कल्पनाशीलता और

कर्म-स्वतंत्रता रखा हुआ है, उसके आधार पर हर नर-नारी समझदारी को अपना सकते हैं। शरीर (रूप) के आधार पर नर-नारी में समानता होगा नहीं। रूप शरीर के साथ है, समझदारी जीवन के साथ है। धन सबके पास समान रूप में हो नहीं सकता। धन के आधार पर नर-नारियों में समानता होगा नहीं। पद सबको मिल नहीं सकता। पद के आधार पर नर-नारियों में समानता होगा नहीं। तलवार और बन्दूक (बल) के आधार पर नर-नारियो में समानता होगा नहीं। तलवार और बन्दूक सभी चला नहीं सकते। नर-नारियो में समानता समझदारी के आधार पर ही सम्भव है। हर नर-नारी समझदार हो सकते हैं।

हमारे देश में आदर्शवादी ज्ञान को स्पष्ट करना चाहते रहे - पर वह स्पष्ट नहीं हो पाया। या कहीं न कहीं उनका पतन हुआ है। या तो वे पूरी बात पाये नहीं, या बीच में पंडितों पुरोहितों के हाथ विकृत हो गया हो - यह हो सकता है। दोनों में से कुछ भी हुआ हो - समझदारी मानव-परम्परा में आया नहीं है। **मनुष्य में चाहत समझदारी का ही रहा है।** अभी यहाँ जितने भी लोग बैठे हैं, नहीं बैठे हैं - सबमें समझदारी की चाहत बनी हुई है। मेरे अनुसार हर व्यक्ति समझदार होना चाहता है - उसके लिए अवसर पैदा किया जाए। वस्तु से समृद्ध होने के लिए अवसर पैदा किया जाए।

"नर नारियों में समानता" और "अमीरी गरीबी में संतुलन" होने पर हम इस धरती पर अनादि काल तक रह सकते हैं।

मानव द्वारा धरती के साथ अपराध प्रधान रूप से खनिज-कोयला, खनिज-तेल, और विकीरणीय धातुओं का अपहरण करने से हुआ है। इन तीन वस्तुओं के अपहरण करने से धरती असंतुलित हुई है। विकीरणीय धातुओं का प्रयोग ही ३००० बार nuclear tests करने में किया गया है। उससे जनित भीषण ताप धरती में ही समाया है। फलस्वरूप धरती बीमार हो गयी। धरती यदि स्वस्थ रहेगा तभी मानव स्वस्थ रूप में कुछ कर सकता है। धरती ही स्वस्थ नहीं रहेगा तो मानव क्या कर लेगा? कहाँ करेगा? इसको सोच कर के तय करना पड़ेगा। हमको धरती को संतुलित रख कर जीना है या नहीं? यदि जीना है तो अपराध-प्रवृत्ति से मुक्त होना आवश्यक है।

संवेदनाओं के पीछे पागल होना ही अपराध-प्रवृत्ति में फँसना है। संवेदनाओं को संतुष्टि देने के पीछे हम दौड़ते हैं तो अपराध के अलावा कुछ होगा नहीं। समझदारी पूर्वक यदि दौड़ते हैं तो समाधान के अलावा कुछ होगा नहीं।

रायपुर में २०-२५ धनाढ्य परिवारों की नारियों की सभा में पूछा गया - नर-नारियों को संवेदनाओं को तृप्त करने के लिए दौड़ना जरूरी है - या संवेदनाओं को नियंत्रित करना जरूरी है? ढाई घंटा चर्चा

करने पर उन्होंने निष्कर्ष निकाला - "यदि संवेदनाओं के पीछे ही हम दौड़ते हैं तो हम जानवरों से अधिक कुछ नहीं हैं। संवेदनाओं को नियंत्रित करके ही हम मानव बन सकते हैं।" यह हर व्यक्ति स्वयं में निरीक्षण कर सकता है - हम कितना संवेदनाओं के पीछे लट्टू हैं, हमारी संवेदनाएं कितनी नियंत्रित हैं। हर नर-नारी यह परीक्षण कर सकते हैं, और उसके आधार पर अपने बच्चों को उदबोधन कर सकते हैं।

संवेदनाओं को तृप्त करने के लिए हम कितना भी काम करें - वे तृप्त होती नहीं हैं। इस तरह काम करने से केवल अपराध होता है। मनुष्य स्वयं में तृप्ति पूर्वक समाधान को प्रमाणित करता है। मनुष्य स्वयं में अतृप्ति पूर्वक अपराध को प्रमाणित करता है।

हमको तृप्त रहना है, या अतृप्त रहना है - इसको हमें तय करना है। हम सब यही तय करने के लिए यहाँ एकत्र हुए हैं। संवेदनाओं को तृप्त करने में लगे रहना है, या संवेदनाओं को नियंत्रित करना है? इसको तय करने के लिए हम यहाँ हैं।

"संवेदनाओं को नियंत्रित करना है" - वहीं से "विकल्प" के अध्ययन की ज़रूरत पड़ती है।

http://1.bp.blogspot.com/_fdpyIQQB1N4/StQXInGo7cI/AAAAAAAAARA/7BQHp0SzpKo/s1600-h/02102009289.jpgयह प्रस्ताव आदर्शवाद और भौतिकवाद दोनों का "विकल्प" है।

आदर्शवाद शुरू भी "रहस्य" से करता है, और उसका अंत भी "रहस्य" में ही है। दूसरे - भौतिकवाद से "सुविधा-संग्रह" ही जीने का लक्ष्य बनता है। सुविधा-संग्रह का कोई तृप्ति बिन्दु होता नहीं है। कितनी भी सुविधा पैदा करें, और सुविधा पैदा करने की जगह बना ही रहता है। कितना भी संग्रह करें, और आगे की संख्या रखा ही रहता है।

विकल्प विधि से सोचने पर यह निकलता है - "मानव-लक्ष्य समाधान-समृद्धि-अभय-सह-अस्तित्व है।"

हमें "सुविधा-संग्रह" के पीछे ही लगे रहना है, या "समाधान-समृद्धि" की ओर चलना है - यह हमको निर्णय करना है।

संवेदनाओं को तृप्त करने के लिए दौड़ते ही रहना है, या संवेदनाओं को नियंत्रित रखना है - यह हमको निर्णय करना है।

समाधान-समृद्धि की ओर चलना है, और संवेदनाओं को नियंत्रित रखना है तो उसके लिए "समझदारी" अवश्यम्भावी है। "समझदारी" का मतलब है - सह-अस्तित्व स्वरूपी अस्तित्व को

समझना और सह-अस्तित्व स्वरूप में जीना।

सह-अस्तित्व स्वरूप में जीने में हमारे न्याय-पूर्वक जीने की बात बनती है। न्याय पूर्वक जीने में किसी का किसी पर "आरोप", किसी की किसी से "शिकायत", किसी की किसी पर "आपत्ति" बनता नहीं है। सह-अस्तित्व विधि को छोड़ कर यदि हम व्यक्तिवादी/समुदायावादी विधि से जीने के बारे में सोचते हैं, तो समस्याएं तैयार हो जाती हैं। मानव मानवीयता पूर्वक जीने से व्यक्तिवादिता से मुक्त होता है। चेतना-विकास को जब समझते हैं, जीते हैं तो व्यक्तिवाद/समुदायवाद दोनों से मुक्त हो जाते हैं। चेतना-विकास को समझने और जीने का प्रमाण मैं स्वयं हूँ। ऐसे प्रमाणों का जो सत्यापन प्रस्तुत करेंगे - उन पर आप विश्वास कर सकते हैं।

इतना कह कर मैं आपको आर्शीवाद और नमन करूंगा। आप सभी शुभ चाहते हैं - इसलिए आपको नमन! आप सभी का शुभ के लिए प्रण सफल हो - उसके लिए आर्शीवाद! इतना सब कहने के बाद इस कहे पर आपको जो भी पूछना है - उसका मैं स्वागत करूंगा। आपके प्रश्नों का उत्तर मेरे पास है। धरती पर जो कुछ भी समस्या है - उसका उत्तर मेरे पास है।

- बाबा श्री नागराज शर्मा के उदबोधन पर आधारित (1 अक्टूबर, २००९ - हैदराबाद)

प्रस्तुत कार्य योजना का स्रोत "मध्यस्थ दर्शन" (सह-अस्तित्ववाद) है, जो सार्वभौम मानवीय संविधान, शिक्षा व स्वराज्य व्यवस्था को प्रतिपादित करता है।

"मध्यस्थ दर्शन" रहस्य से मुक्त है। यह मनुष्य के सम्पूर्ण आयामों की यथार्थता, वास्तविकता और सत्यता को अध्ययन गम्य और बोध गम्य कराता है। "मध्यस्थ दर्शन" अनुभव बल की अभिव्यक्ति, सर्वतोमुखी समाधान की संप्रेषणा, न्याय पूर्ण व्यवहार, नियम पूर्ण व्यवसाय व आचरण पूर्ण पद्धति से जीने की कला को करतलगत कराता है। साथ ही साधार उपायों द्वारा योजनाबद्ध पद्धति से मनुष्य की परस्परता में, भौतिक समृद्धि, बौद्धिक समाधान अभयता (मानव में निहित समस्त भयों से मुक्ति) व सह--अस्तित्व को सहज सुलभ कराता है।

"मध्यस्थ दर्शन" के अनुसार अस्तित्व में प्रत्येक इकाई समग्रता के साथ भागीदारी का निर्वाह करते हुए अग्रिम विकास के सूत्र से सूत्रित है। इस तथ्य को जानने-मानने, पहिचानने एवं निर्वाह करने के क्रम में "मानव स्वयं में एक व्यवस्था है व समग्र व्यवस्था के साथ भागीदार है।"

अस्तित्व में मानव सभी भावों का द्रष्टा है। सभी भावों

की समझ ही जीवन जागृति है, जो अनुभव में प्रमाणिकता व विचार में समाधान है। सम्पूर्ण समाधान में मानव तथा नैसर्गिक (मनुष्येतर प्रकृत्ति–जीवावस्था, प्राणावस्था, पदार्थावस्था) सम्बन्धों की पहचान व उनमें निहित मूल्यों को निर्वाह, सहज रुप में होना है।

"मध्यस्थ दर्शन" निम्न ४ भागों में है–

१. मानव व्यवहार दर्शन ।
२. मानव कर्म दर्शन ।
३. मानव अभ्यास दर्शन ।
४. मानव अनुभव दर्शन ।

जिसमें समग्र अस्तित्व अर्थात अस्तित्व ही "सह–अस्तित्व" अस्तित्व में विकास, विकास क्रम में जीवन, व जीवन-जागृति तथा अस्तित्व में भौतिक–रासायनिक रचना व विरचना का निर्गम अध्ययन समाविष्ट है।

"मध्यस्थ दर्शन" पर आधारित सह अस्तित्ववादी दृष्टिकोण के आधार पर मानव किस प्रकार मनुष्येतर प्रकृति के साथ, मानव, मानव के साथ, व मानव समग्र अस्तित्व के साथ, सह–अस्तित्व को अनुभव कर सकता है यह निम्न विचारधाराओं में अध्ययन कराया गया है :–

१. समाधानात्मक भौतिक वाद ।
२. व्यवहारात्मक जनवाद ।
३. अनुमवात्मक अध्यात्मवाद ।

सह–अस्तित्ववादी दर्शन के आधार पर ही स्वराज्य (न्याय सुलभता, विनिमय–सुलभता, उत्पादन–सुलभता) व स्वतंत्रता (स्वानुशासन) मानव को "जीने की कला" के रूप में उपलब्ध हो

जाए, इसलिए इसे निम्न शास्त्रों में अध्ययन सुलभ कराया गया है–

१. आवर्तनशील अर्थ चिंतन.
२. व्यवहारवादी जन चेतना (मानवीय संविधान व आचार संहिता)
३. मानव संचेतनावादी मनोविज्ञान.

इसके साथ ही निम्न योंजनाएँ उपलब्ध है जिसका वर्णन (इस योजना प्रारूप में) अन्यत्र किया गया है :–

१. जीवन - विद्या कार्यक्रम.
२. उत्पादन – व्यवस्था.
३. मानवीय शिक्षा – योजना.
४. संविधान – योजना.
५. राज्य – व्यवस्था – योजना (अखंड समाज)
६. आवर्तनशील अर्थ व्यवस्था योजना.
७. पर्यावरण सुरक्षा योजना.
८. मानवीय न्याय व्यवस्था योजना.
९. मानवीय स्वास्थ्य संयम योजना.

जीवन विद्या - अवधारणा

मूलतः जीवन विद्या और उसकी अवधारणा का स्रोत अस्तित्वमूलक मानव केन्द्रित चिन्तन और उसकी अभिव्यक्ति है। यह मानव परंपरा में, से, के लिये अर्पित है।

'अस्तित्व' में मैं अनुभूत हुआ हूँ। अनुभव को बोधपूर्वक संप्रेषित किया हूँ और अस्तित्व में मैं अपने ही जागृतिपूर्णता को प्रमाणित कर रहा हूँ । मैं अपने दृष्टापद प्रतिष्ठा और उसके प्रयोजनों को पहचानता हूँ । अस्तित्व में मानव को अविभाज्य रुप में होना पाता हूँ।

अस्तित्व का तात्पर्य नित्य वर्तमान है। वर्तमान का तात्पर्य 'होना' ही है। जैसे आप हम धरती, अनन्त और व्यापक का होना देखते हैं। हम एक दूसरे को देखने में बीच में व्यापक वस्तु दिखाई पड़ती है। इसी व्यापक वस्तु में आप हम, यह धरती, चांद-सूरज, तारागण अनन्त सौर व्यूह समाया हुआ दिखता है।

इस समाए हुए का स्वरुप ही सम्पूर्ण एक-एक, चाहे परमाणु हो, चाहे ग्रह-गोल सौर व्यूह हो, सभी इसी व्यापक वस्तु में घिरे, डूबे और भीगे दिखते हैं। वस्तु का तात्पर्य वास्तविकता को (जैसा है वैसा ही) प्रकाशित करने से है। इस प्रकार व्यापक वस्तु अपने वास्तविकता को और विभक्त वस्तु अपने वास्तविकता को प्रकाशित कर रहे हैं। यही अस्तित्व की मूलअवधारणा है।

'व्यापक' वस्तु में विभक्त वस्तुएँ भीगे रहने का प्रमाण उनका उर्जा सम्पन्न रहना है। ऐसी उर्जा सम्पन्नता, बल सम्पन्नता के रुप में स्पष्ट हैं। ऐसी बल सम्पन्नता क्रियाशीलता और क्रियाशीलता श्रम, गति परिणाम के रुप में दिखती हैं। इसी के साथ-साथ घिरा हुआ से नियंत्रण, डुबा हुआ से क्रियाशीलता निरंतर देखने को मिलती हैं। यही सह अस्तित्व की अवधारण है।

अस्तित्व सहज सह अस्तित्व ही इस धरती पर वैभवित है। इसे हम पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था और ज्ञानावस्था के रुप में देखते है। इसमें से मनुष्येत्तर तीनों अवस्था की प्रकृति का संतुलित, नियंत्रित और नियमित रहना पाया जाता है। यही इनके व्यवस्था में रहने का एवं समग्र व्यवस्था में भागीदार होने का साक्षी है। इन तत्वों की विशद व्याख्या न करते हुए मैं मानव को अध्ययन की वस्तु के रुप में प्रस्तुत करना चाहता हूँ।

मनुष्य अस्तित्व में अविभाज्य है। सह-अस्तित्व प्रभाव में ही अस्तित्व दिखाई पड़ता है, इसलिये मनुष्य भी सह-अस्तित्व प्रभाव में है। मनुष्य का मूल स्वरुप ही 'जीवन' और शरीर के सह अस्तित्व में वैभवित है। जिसमें से शरीर रासायनिक भौतिक रचना के रुप में होना सर्वविदित है। जिसमें ५ कर्मेन्द्रिया, ५ ज्ञानेन्द्रियां एवं विकसित मेधस होना स्पष्ट है। इसके लिये आवश्यकीय सभी अंग-अवयव शरीर रचना ज्ञान में स्पष्ट हो चुका है।

'जीवन' वस्तु को पहचानने के क्रम में भौतिकवादियों ने 'शरीर रचना विशेष' को ही 'वस्तु' मान लिया जबकि आदर्शवादियों ने ईश्वर अथवा आत्मा को वस्तु माना। पहली विधि से मनुष्य व्याख्यायित नहीं हो पाया। दूसरी विधि से रहस्य के अनन्तर रहस्य ही दीवार बन गई। इसलिये 'जीवन' विशेषकर मानव जीवन अध्ययन गम्य नहीं हो पाया।

अस्तित्व में यह देखा गया है कि परमाणु में विकास होता है। विकास क्रम में 'जीवन' पद होता है 'जीवन' पद के अनन्तर जागृति क्रम और जागृति 'जीवन' में ही होती है। इसे हम इस प्रकार देख पाते है कि सम्पूर्ण प्रजाति के परमाणुओं को कतार में रखकर देखने पर कुछ संख्या तक ही पाये जाने वाले परमाणु 'भूखे' रहते है क्योंकि उनमें और अंशों को समा लेने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है; और कुछ संख्यात्मक प्रजाति के परमाणु

ए नागराज, प्रणेता एवं लेखक मध्यस्थ दर्शन (सहअस्तित्ववाद) www.madhyasth.org
04. लेख जीवन विद्या अवधारणा_c ए नागराज 12

'अजीर्ण' स्थिति में दिखाई पड़ते है क्योंकि उनसे कुछ अंश विसर्जित होने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। दिखने का अर्थ समझने से हैं। मनुष्य ही समझने वाली एक मात्र इकाई है। इसी आधार पर मनुष्य का ही दृष्टा होना हम स्वीकार सकते है। हम 'जीवन विद्या परिवार' इसे समझकर स्वीकार कर चुके हैं । 'दृष्टापद' में ही जीवन एक तृप्त परमाणु के रुप में समझ में आता है क्योंकि 'भूखे' और 'अर्जीर्ण' परमाणुओं के बीच 'तृप्त' परमाणु होना एक आवश्यकता है। यही तृप्त परमाणु जागृतिपूर्णता के अनन्तर स्वयं को समझने और अस्तित्व को समझने के योग्य हो जाता है। यही अस्तित्वमूलक मानव केन्द्रित चिन्तन ज्ञान की स्पष्ट अभिव्यक्ति का आधार है।

ऐसे तृप्त परमाणु रुपी जीवन और शरीर के संयुक्त रुप में मनुष्य का होना पाया जाता हैं। इसलिये यहाँ मै कहना चाहता हूँ कि मनुष्य के नाम से जो कुछ भी समझने के बिन्दु हैं, 'जीवन' ही उन्हें समझता है, इसलिये जीवन ही दृष्टा, कर्ता ओर भोक्ता होता है। जीवन विहीन शरीर मनुष्य नहीं होता, शरीर विहीन जीवन भी मनुष्य के पद में नहीं होता । अतएव जीवन और शरीर के संयुक्त रुप में मानव परंपरा का होना देखा जाता हैं।

मानव परंपरा ही ज्ञानावस्था की इकाई है। ज्ञान मूलतः जीवनज्ञान ही हैं। दर्शन, मूलतः अस्तित्व दर्शन ही है। सम्पूर्ण मानव के लिये 'मानवत्व' ही आचरण का आधार हैं। इस प्रकार जीवन ज्ञान ही परम ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ही परम दर्शन एवं मानवीयतापूर्ण आचारण ही परम आचरण है क्योंकि यह सबकी आवश्यकता है। सर्वमानव की आवश्यकता है। यह सबको समझ में आने की संभावना है और इस स्पष्ट ज्ञान, दर्शन और आचरण के फलस्वरुप अखण्ड समाज-सार्वभौम व्यवस्था समीचीन है।

इस पूर्व भूमि के आधार पर जीवन विद्या की सामान्य अवधारणाओं की ओर आपका ध्यानाकर्षण करना चाहते हैं। इसमें परिशीलन (परीक्षणपूर्वक स्वीकारना) के लिये यह आवश्यक है कि स्वयं ही, स्वयं का, स्वयं के लिये परीक्षण करें। यहीं प्रमुख बिन्दु हैं। इस स्थिति में जीवन के स्वरुप को गठन पूर्ण तृप्त परमाणु के रुप में समझ पाते हैं। ऐसे तृप्त परमांणु में अक्षय बल और अक्षय शक्तियों को समझना सहज है। जैसे प्रत्येक व्यक्ति अपने में आशा, विचार, इच्छा, संकल्प और अनुभव करता ही है। इन पाँचों शक्तियों को कितना भी परावर्तित किया जाए और परावर्तित करने के लिये ये शक्तियाँ उद्गमित होती रहती है। दूसरे क्रम में कितनी भी आशा के अनन्तर और आशा हम प्रत्येक व्यक्ति कर सकते हैं। इसे प्रत्येक व्यक्ति अनुभव कर सकता है, सत्यापित कर सकता है। इसी प्रकार विचार, इच्छा, संकल्प और अनुभव को भी अक्षय रुप में पाते हैं।

इसी अक्षयता को पहचानने के साथ-साथ सार्थकता की कसौटी अपने आप मानव के सामने आती है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति सफल होना चाहता है। इस आशय के साथ सफलता के ध्रुव बिन्दु को भी पहचानना अनिवार्य हैं। प्रत्येक मनुष्य में होने वाली जीवन क्रियाएँ सहज रुप में ही चयन, आस्वादन, विश्लेषण, तुलन, चित्रण, चिन्तन, संकल्प, बोध, प्रामाणिकता और अनुभव के रुप में सतत होती ही रहती हैं।

मानव परंपरा में सार्थकता को समाधान, समृद्धि, अभय और सहअस्तित्व के रुप में पहचाना गया है। इसकी सर्वभौमता को सम्पूर्ण मानव स्वीकारता ही है। इन सर्वशुभ बिन्दुओं को सफल और सर्वसुलभ होने की दिशा में ही जागृति और अजागृति की रेखा स्पष्ट हुई है। जागृत मानव परंपरा में ही अपनी जागृत संतानों को देखने का सौभाग्य सहज है। भ्रमात्मक (अजागृत) कार्यकलाप को प्रिय, हित और लाभ दृष्टि से अनुप्राणित चयन, आस्वादन, विश्लेषण और चित्रण क्रियाकलाप के रुप में पहचाना जाता है। जबकि न्याय, धर्म और सत्यपूर्ण दृष्टि से अनुप्राणित चयन, आस्वादन, विश्लेषण,चित्रण, चिन्तन, संकल्प, बोध, प्रामाणिकता और अनुभव ही जागृति का प्रमाण हैं। इस प्रकार जागृतिपूर्वक ही स्वायत्त मानव और परिवार मानव के रुप में हमारा स्पष्ट होना पाया जाता है। फलतः परिवार मूलक स्वराज्य इसी देश-धरती में प्रमाणित होना एक मानव सहज आवश्यकता, सम्भावना और उपलब्धि हैं। मेरी दृष्टि में यही सर्वोदय है, अभ्युदय है, यही स्वतंत्रता भी हैं। ■ ■ ■

ए० नागराज

प्रणेता - मध्यस्थ दर्शन (सहअस्तित्ववाद)

| स्रोतः मानवीय राष्ट्रीयता का प्रारूप, १९८५ , लेखकः ए नागराज

मानवीय राष्ट्रीयता के प्रारूप का आधारभूत मध्यस्थ दर्शन (सहअस्तित्ववाद) विकास के क्रम में वास्तविकताओं के आधार पर निःसृत जीवन दर्शन है जिसमें द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के स्थान पर समाधानात्मक भौतिकवाद, संघर्षात्मक जनवाद के स्थान पर व्यवहारात्मक जनवाद, रहस्यात्मक अध्यात्मवाद के स्थान पर अनुभवात्मक अध्यात्मवाद स्पष्टतः सुलभ हुआ है। इसी में सामाजिक (धार्मिक) आर्थिक राज्यनीति का विश्लेषण हुआ है। यह दर्शन चार भागों में हैं :-

१. मानव व्यवहार दर्शन
२. मानव कर्म दर्शन
३. मानव अभ्यास दर्शन
४. मानव अनुभव दर्शन

विगत का अवलोकन

१. सुदूर विगत से आज पर्यन्त विभिन्न संस्कृतियां एवं सामाजिक व्यवस्थाएँ अपनी-अपनी भौगोलिक परिस्थितियों के आधार पर निर्मित हुई और मौलिक रुप में भौतिक एवं अधिभौतिक चिंतन पर आधारित रही हैं। इसी चिंतन के आधार पर उनकी धार्मिक, आर्थिक एवं राजनैतिक प्रणालियां निर्मित एवं विकसित हुई। वर्तमान में अपने समस्त साधनों से सम्पन्न होकर ये संस्कृतियां अथवा सामाजिक व्यवस्थाएँ परस्पर सम्पर्क में आई। परिणाम स्वरुप प्रत्येक संस्कृति एवं व्यवस्था की अपनी श्रेष्ठता एवं उपादेयता के प्रतिस्थापन – क्रम में पारस्परिक संघर्ष पूर्वक दलन, दमन एवं शोषण की कूटनीति को वर्तमान राजनीति का रुप समझा जा रहा है। यही अर्न्तद्वन्द्व अथवा अर्न्तविरोध भयंकर उथल-पुथल एवं तृतीय विश्वयुद्ध की संभावनाओं से गर्भित है।

२. युद्ध अथवा युद्ध की मानसिकता मानव विकास के लिये कभी भी सहायक सिद्ध नहीं हुई है। इससे जन-समूह भयाक्रांत होकर व्यक्ति केन्द्रित अथवा व्यक्तिपरक विचारों में सीमित साथ ही सामाजिकता के चिंतन से विमुख होता गया जबकि सामाजिकता ही निर्भयता अथवा निर्भयता ही सामाजिकता है।

३. अतीत में धर्मप्रधान एवं अर्थप्रधान राजनैतिक व्यवस्थाओं के प्रयोग अपनाये गये थे। धर्मप्रधान राजनीति के मूल में पाप-पुण्य तथा स्वर्ग-नरक के भय एवं प्रलोभन मुख्य तत्व रहे हैं। इसी प्रकार अर्थप्रधान राजनीति पूंजीवादी एवं साम्यवादी व्यवस्था प्रणाली से प्रभावशील हुई। इन दोनों के लक्ष्य वर्ग एवं अतिभोग अथवा बहुभोग ही रहे हैं।

४. इस प्रकार अतीत के भय और प्रलोभन के रहस्य पर आधारित धर्मप्रधान व्यवस्थायें न तो मानव को निर्भ्रम व निर्भ्रान्त बना सकी और न उसे समृद्धि, समाधान एवं सुख की निरन्तरता ही प्रदान कर सकी। अतिभोग एवं बहुभोग वाली अर्थ प्रधान व्यवस्थायें भी मानव को जीवन मूल्य एवं समाज मूल्य से समृद्धि नहीं बना सकी। फलतः सशंकता, भय, निराशा एवं कुण्ठा की अभिवृद्धि हुई।

भौतिकवादी व्यवस्था की असफलता

५-I अनेक सम्प्रदाय, वर्ग, जाति, मत आदि के आधार पर स्थापित समझौतावादी वर्ग भावना से सम्बद्ध समाज कहलाने वाली इकाईयां मानव के लिए समाधान, समृद्धि, अभय एवं सह – अस्तित्वपूर्ण सार्वभौमिक सामाजिकता राष्ट्रीयता को विकसित करने में समर्थ नहीं रहीं। फलस्वरुप प्रत्येक देश असमाधान, संशकता, भय एवं सह – अस्तित्व विहीनतावश दिग्भ्रमित होकर सम्पूर्ण मानव के विनाश हेतु शस्त्र भंडार या निर्माण करने के लिये हठ एवं होड़ सहित प्रयास रत है। वर्तमान में प्रधानतः युद्ध निपुणतापूर्ण युद्ध सामग्रियों के निर्माण एवं संग्रह करने में जो देश समृद्ध है उसी देश को मनुष्य ने विकसित देश कहा। क्या स्वविध्वंस क्षमता विकास की कसौटी मानी जा सकती है? क्या यह क्रूरता का द्योतक नहीं है? क्या क्रूरता अखंड सामाजिकता राष्ट्रीयता हो सकती है? क्या यह दानवीयता नहीं है? क्या दानवीयता ही विकास है? यह सब प्रश्न अपने आप उभर कर आते हैं। साथ यह बात भी स्मरण में आती है कि क्या राष्ट्र व राज्य के विकास एवं विकासशीलता की सम्पत्ति, सामग्री, उद्देश्य एवं आदर्श क्रूरता हो सकती है? यदि हां तब उसके साथ और दो तत्व हीनता एवं दीनता अवश्यंभावी हैं।

हीनता का तात्पर्य विश्वासघात से एवं दीनता का तात्पर्य अभाव एवं अक्षमता से है। यदि हीनता, दीनता एवं क्रूरता राज्य एवं राष्ट्र की मानसिकता होती तो क्या सामाजिक व्यवस्था एवं उसके कार्यक्रम कभी सफल हो सकते है? इन तमाम प्रश्नों के उत्तर में प्रत्येक सामान्य व्यक्ति का उत्तर नकारात्मक ही होगा। ऐसी स्थिति में सामाजिकता का क्या आधार रहेगा? मानव की मानसिकता ही उसके निर्माण का मूल आधार होती है। यदि किसी मानव या राष्ट्र की मानसिकता के मूल में छल, कपट, दम्भ, पाखंड, द्रोह–विद्रोह, वध – विध्वंस अथवा स्वयं के लिये अति भोग या बहुभोग रहा हो तो उस राष्ट्र या समाज का अंतिम परिणाम स्वयं या अन्य के लिये क्लेश श्रृंखला के अलावा और क्या हो सकता है? यह सब भौतिकवादी अर्थप्रधान चिन्तन एवं व्यवस्था का अब तक का परिणाम रहा है।

५–II भौतिकवादी अथवा भोग–परक चिन्तन प्रकृति के विकास क्रम को मानते हुए गठनपूर्णता, क्रिया पूर्णता एवं आचरणपूर्णता अर्थात चैतन्य प्रकृति के सम्यक अध्ययन की मानसिकता निर्मित करने में समर्थ नहीं रहा है। जिसके फलस्वरुप समाज मूल्य एवं जीवन मुल्य का समुचित अध्ययन नहीं हो पाया है। इसी सत्यतावश मनुष्य को जड़ प्रकृति अर्थात् रासायनिक अथवा भौतिक परिणाम एवं परिवर्तन की सीमा में विश्लेषण करते हुए यांत्रिक जीवन के लिये बाध्य किया है। मनुष्य का स्वभाव से ही संवेदन एवं संज्ञानशील होने के कारण यंत्रवत जीवन तक सीमित रह सकना संभव नहीं हो रहा है और उस घुटन से बाहर निकलने के लिये छटपटा रहा है। साथ ही स्वस्थ दिशा व मार्ग के लिये प्रतीक्षारत है।

❖ अधि भौतिकवादी (धर्मप्रधान) व्यवस्था की असफलता-

५-III अधिभौतिकवादी धर्म प्रधान चिन्तन व व्यवस्था ने रहस्य पर आधारित पाप पुण्य, स्वर्ग नरक एवं मोक्षवादी प्रलोभन या भय की मानसिकता को निर्मित किया। साथ ही मोक्ष या निवृत्तिवादी मानसिकता के अतिरिक्त स्वर्ग व पुण्य के फल में भोग प्राप्ति का प्रलोभन अथवा उसके विपरीत में भोग के अभाव होने के साथ प्रताड़न-भय की मानसिकता का निर्मित किया। इतना ही न होकर अर्थात् उच्चांग स्थितियां अर्थात मोक्ष कैवल्य, सहज-अवस्था एवं साक्षात्कार के लिये भी रहस्य का आवरण बना ही रहा। इसी रहस्यमयता-वश अधिभौतिक या धर्म प्रधान व्यवस्था के अन्तर्गत निर्मित मानसिकता के अन्तर्गत आने वाले मानव समाज में आत्म निर्भरता के स्थान पर एक सर्वशक्तिमान रहस्यमय इकाई पर पराश्रित रहने की मानसिकता को तैयार किया। इसी पराश्रयी भावना या मानसिकता ने मानव को परम्परा का दास बनाया एवं इसके कारण पुरुषार्थ तथा स्वअस्तित्व के प्रति गौरवपूर्वक साहसिकता विकसित नहीं होने पाई। इस प्रकार अधिभौतिकवादी या धर्मप्रधान चिन्तन प्रकृति के विकासक्रम में मानव जीवन, जीवनी क्रम एवं जीवन के कार्यक्रम को विश्लेषण पूर्वक विकसित करने में समर्थ नहीं रहा है।

❖ विकल्प की आवश्यकता

५-IV इन ऐतिहासिक प्रयोगों एवं उनके परिणामों से स्पष्ट होता है कि धर्म एवं अर्थपरक चिन्तनों पर आधारित व्यवस्थायें मानव समाज पर प्रयोग के द्वारा व्यर्थ सिद्ध हो चुकी हैं। अस्तु विकल्प के रूप में एक स्वस्थ सामाजिक व्यवस्था की अनिवार्यता की अनुभूति वर्तमान विश्व-समाज को हो रही है जिसमें समाधान, समृद्धि, अभय एवं सह-अस्तित्व सर्व सुलभ हो सके। ऐसी व्यवस्था मानवीयता पूर्ण सह अस्तित्ववादी चिंतन पर आधीरित होगी जिसके लिये जड़ व चैतन्य प्रकृति की क्रिया शीलता का अध्ययन एक अनिवार्य तथ्य है। क्योंकि मनुष्य जड़ व चैतन्य का संयुक्त साकार रुप है।

❖ चैतन्य प्रकृति की विशेषता :

६-I चैतन्य पद, प्रकृति के विकासक्रम में पाया जाने वाले एक तथ्य है। जड़ प्रकृति का परमाणु ही विकास पूर्वक अथवा गठनपूर्णता पूर्वक चैतन्य पद अथवा जीवन पद को पाता है। फलत: अमरत्व सिद्ध होता है। साथही अक्षय शक्ति सम्पन्न होता है। इस प्रकार जीवनता एकअनुस्यूत प्रक्रिया सिद्ध होती है। इससे स्पष्ट होता है कि जीवन नित्य जन्म-मृत्यु घटना मात्र है। इसी चैतन्य जीवनके क्रम में जीवन का समस्त कार्यक्रम समाया है। जीवन एवं जीवन के कार्य-क्रम के ज्ञापन, प्रकाशन, व्यवहार एवं संस्कार की प्रक्रिया ही संस्कृति या सभ्यता है। अस्तित्वपूर्वक जन्म द्वारा जीवन ही जीवात्मा एवं ज्ञानात्मा के पद या रुप में प्रकाशित है। जीवन की निरन्तरता जन्म घटना का मूल कारण है। जीवन के अभाव में जन्म का होना नहीं पाया जाता है। जीवन पद प्रतिष्ठा परमाणु में गठन पूर्णता से विकसित होती है। गठनपूर्णता का तात्पर्य परमाणु में समाने योग्य सभी अंशो के समा जाने से है यह घटना परमाणु के स्वभाव गति तथा वातावरण के दबाव व देय के योगफल में होती हैं। प्रत्येक इकाई के लिये स्वभाव गति प्रतिष्ठा में ही उसके विकास की संभावना अत्यंत,सन्निहित या उदित होती है। इसी क्रमिक विकास में जड़ चैतन्यात्मक प्रकृति प्रकट है। जड़ प्रकृति के परमाणु में प्रस्थापन, विस्थापन के साथ रुप और गुणो में परिवर्तन होता है जिसका परिमाणित होना पाया जाता है।

६-II इससे स्पष्ट होता है कि जड़ प्रकृति में मात्रात्मक परिवर्तन के साथ गुणात्मक परिवर्तन होता है जबकि चैतन्य प्रकृति में केवल गुणात्मक परिवर्तन का क्रम पाया जाता है जिसका परिमाण नहीं होता है जैसे- आशा, विचार एवं संकल्प में परिवर्तन के साथ कोई मात्रात्मक परिवर्तन नहीं होता है जो बच्चों से बड़ों तक में देखा जा सकता है। भ्रम का ज्ञान होने एवं उसका सुधार करने का ज्ञान व अधिकार गुणात्मक परिवर्तन है जो मानव के लिये एक सहज संभावना है। इसे मनुष्य के लिये सहज, सुलभ व सार्थक बनाने की दिशा में मनुष्य अध्ययन, अध्यापन, प्रयोग, संयोजन, योजन, संधान एवं अनुसंधान कार्य में रत है। इस क्रम में मनुष्य अस्तित्व प्रतिष्ठा से व्यवहार प्रतिष्ठा तक विधिवत अध्ययन करना चाहता है। विधिवत अध्ययन का तात्पर्य वस्तु स्थिति, वस्तुगत एवं स्थित सत्य में निर्भ्रमता के रूप में स्पष्ट है।

६-३ वस्तुस्थिति सत्य-देश, काल एव दिशा के ज्ञान में चरितार्थ होता है।
६-४ वस्तुगत सत्य --- रूप, गुण, स्वभाव एवं धर्म के ज्ञान में होता है।
६-५ स्थिति सत्य -- सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति (अस्तित्व समग्र) के ज्ञान में होता है।

६-६ चैतन्य इकाई में आशा, विचार, इच्छा, संकल्प एवं अनुभूति का प्रकाशन शरीर के द्वारा होता है जिसे प्रत्येक जीव शरीर के द्वारा आशा और मनुष्य शरीर के माध्यम से आशा, विचार, इच्छा, संकल्प एवं अनुभूति को देखा जाता है। चैतन्य क्रिया अर्थात जीवन अक्षय शक्ति सम्पन्न होने के कारण उपभोग से अधिक उत्पादन करने में सक्षम है। इसी सक्षमतावश चैतन्य क्रिया या जीवन में आशा, विचार इच्छा, संकल्प एवं अनुभव शक्तियों का प्रकाशन कितना भी करें उससे चैतन्य क्रिया या जीवन में कोई छरण नहीं होता है। यह उसकी अक्षय शक्ति का प्रधान लक्षण है। चैतन्य इकाई या जीवन की अक्षय शक्ति सम्पन्नता के कारण जीवनीयता प्रतिष्ठित या प्रकाशित होती है। यही संवेदनशीलता तथा संज्ञानीयता है। इसी प्रतिष्ठावश वातावरणस्थ क्रिया व सत्यता के संकेत ग्रहण व प्रसारण की क्रिया होती है। इस प्रकार चैतन्य क्रिया की जीवन

६-७ उपरोक्त विशेषतावश चैतन्य इकाई में गुणात्मक परिवर्तन के साथ मात्रात्मक परिवर्तन नहीं होता है। चैतन्य इकाई में गुणात्मक परिवर्तन के साथ यदि मात्रात्मक परिवर्तन होता तब प्रत्येक आशा, विचार, इच्छा, संकल्प एवं अनुभूति के साथ मात्रात्मक एवं रूपात्मक परिवर्तन भी होता जबकि ऐसा नहीं होता है। इसके विपरीत विचारों के अनुरूप बिना किसी रूपात्मक या मात्रात्मक परिवर्तन के शरीर का संचालन होता रहता है। चैतन्य के सहयोग से जड़ शरीर जितनी शक्ति ग्रहण करता है उससे कहीं अधिक शक्ति को बहिर्गत करता है। चैतन्य क्रिया अथवा जीवन के अतिरिक्त स्थूल शरीर रासायनिक एवं भौतिक संरचना है। इसके सम्पूर्ण क्रियाकलाप यांत्रिक हैं। यांत्रिकता में जितनी शक्ति ग्रहण होती है उससे कम का प्रकरन होता है। इन तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य जड़ शरीर और चैतन्य क्रिया (जीवन) का संयुक्त साकार रुप है। मानव के संस्कार मात्र का जीवनगत होना अर्थात आशा, विचार, इच्छा, एवं संकल्प गत होना उसी के आनुषंगिक क्रान्तिकारिता (गुणात्मक विकास) एवं जनवादिता का होना एक वस्तुगत सत्य के रुप में पाया जाता है जिसके आधार पर विकास एवं ह्रास स्पष्ट होता है। मनुष्य का प्रकाशन अमानवीयता, मानवीयता और अतिमानवीयता वादी कार्य, व्यवहार, व्यवसाय, अध्ययन एवं व्यवस्था संबंधी प्रक्रियाओं के रुप में होता है। मनुष्य की स्वभाव गति मानवीय होने के कारण उसकी तुलना में ह्रास एवं विकास का निर्णय हो पाता है।

६-८ नियतिक्रम में विकास का अभाव नहीं है। यह प्रकृति में विविधता के रुप में दृष्टव्य है। यह विकास विविधता इस पृथ्वी पर चार स्थितियों में अर्थात पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था एवं ज्ञानावस्था में परिलक्षित होती है। यही वैविध्यता विकास क्रम प्रक्रिया एवं व्यवस्था को स्पष्ट करती है। इन सब का अध्ययन ही दार्शनिकता है।

७-१ दार्शनिकता मनुष्य की संवेदनशीलता एवं संज्ञानीयता का अध्ययन एवं प्रकाशन है। यह मनुष्य की अविभाज्यक्षमता है। दर्शनक्षता अस्तित्व में, अस्तित्व से एवं अस्तित्व के लिये समाधान एवं आनन्द के अर्थ में चरितार्थ होती है। अस्तित्व समग्र सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति है। प्रकृति का तात्पर्य रुपात्मक अस्तित्व से है। यही अनेक रुप में स्पष्ट है। अनेकरूपता अथवा वैविध्यता मूलतः अध्ययन का विषय है। अरुपात्मक अस्तित्व समान रुप में अर्थात सर्वत्र एक सा होना पाया जाता है। सम्पूर्ण गति एवं मात्रा रुपात्मक अस्तित्व की सीमा में दृष्टव्य है। सम्पूर्ण गति व मात्रा अरुपात्मक अस्तित्व में समाहित है। प्रकृति की वृहद से वृहद एवं सूक्ष्म से सूक्ष्म इकाइयाँ गति व मात्रा रहित अस्तित्व में घिरी हुई हैं जो मध्यस्थ सत्ता, शून्य, ज्ञान, पूर्ण एवं परमात्मा आदि संज्ञा से अभिहित हैं। मूलतः रुपात्मक एवं अरुपात्मक अस्तित्व ही अस्तित्व समग्र है।

७-२ अस्तित्व स्वयं में कोई संख्या नहीं है। यह केवल अनंत एवं व्यापक है। कारण गुण एवं गणित से मनुष्य के द्वारा प्रत्येक स्थिति निर्णित होती है जबकि अस्तित्व के संबंध में उसकी विस्तार व्याप्ति सीमाऐं संख्या ग्राह्य न होने के कारण इसे केवल व्यापक एवं अनंत की संज्ञा दी गई है। अस्तित्व कैसा है? यह स्पष्ट होता है। कितना है? यह स्पष्ट नहीं होता। इसका मूल कारण यह है कि मनुष्य में अस्तित्व सर्वस्व की आवश्यकता सिद्ध नहीं हो पाती है। फलतः उसके लिये प्रयास नहीं होता है साथ ही मनुष्य के लिये अनुभव से अधिक उदय होता है। अर्थात् अनुभव के आधार पर अधिक का अनुमान होता है। मनुष्य में, मनुष्य से एवं मनुष्य के लिये अनुभव ही प्रमाण परम है। प्रयोग व व्यवहार के मूल में भी अनुभव ही है।

८.-१ रुपात्मक अस्तित्व अनेक इकाइयों का समूह है। प्रत्येक इकाई का विभिन्न स्तरीय विकास अपेक्षाकृत अस्तित्व है। यही स्पष्टतः संख्या एवं संख्या का आधार है। विकास के क्रम में मनुष्य का अस्तित्व भी एक घटना है। प्रत्येक घटना में अपनी विशेषताएं होती हैं। इसी तारतम्य में मनुष्य में अपनी विशेषता के अनुसार अर्थात ज्ञानावस्था के विकास के अनुरुप पूर्णतया दर्शनक्षमता की संभावना है। इसी के आधार पर अर्थ का सदुपयोग एवं सुरक्षा का अधिकार मानव में, मानव से, एवं मानव के लिये सुरक्षित है। संभावनाओं को सफल बनाना ही अधिकार है।

९.-१ मानवीयता मनुष्य की स्वभावगति है। स्वभावगति में उसके गुणात्मक परिवर्तन का अधिकार व निरन्तरता स्पष्ट होती है। अग्रिम विकास तब तक होता रहता है जब तक मनुष्य इकाई को सत्ता में अनुभव न हो जाय। यही विकासपूर्णता है। यही समाधान एवं समाधान ही निरन्तरता है। स्वभावगति में हस्तक्षेप से काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं मात्सर्य उत्पन्न होता है, जो आवेशित गति है। आवेशित गति को सामान्य बनाने के लिये वातावरण का दबाव ही अनुशासन, सामान्य गति को बनाये रखना ही शासन एवं उसकी निरन्तरता ही प्रभुसत्ता अथवा प्रबुद्धतापूर्ण सत्ता है। यही निपूणता, कुशलता एवं पांडित्यपूर्ण संस्कृति, सभ्यता, विधि एवं व्यवस्था है। पांडित्य स्वयं में विधि है जिसके आधार पर नीति, कार्य पद्धति एवं विषय वस्तु का निर्धारण एवं निस्सरण होता है। न्यायान्याय, धर्माधर्म, सत्यासत्य का ज्ञान ही पांडित्य है। पांडित्य मनुष्य

के कार्य व्यवहार, आचरण, अभ्यास एवं विकास का मूल स्त्रोत एवं लक्ष्य है। कुशलता एवं निपुर्णता, शिष्टता एवं व्यवसाय के आधार एवं समृद्धि के लक्ष्य हैं। पांडित्य के अभाव में कुशलता एवं निपुणता की उपयोगिता का ध्रुवीकरण नहीं हो पाता है। निपुणता एवं कुशलता का अधिकार उपयोगिता एवं सुन्दरता मूल्य की सीमा में उपादेयी होता है। पाँडित्य में जीवन मूल्य अथवा स्थापित मूल्यानुभव या प्रमाण क्षमता या अधिकार है। प्रमाणिकता स्वत: सुख, शांति, सन्तोष एवं आनन्द है। यही मन, वृति चित्त, बुद्धि एवं आत्मा के संबंध में निर्विषमता है। प्रमाणिकता मनुष्य का अधिकार परम है। मानवीयता पूर्ण पद्धति से आचरण व व्यवहार करने के लिये मनुष्य स्वतंत्र है। मनुष्य का मानवीयता पर स्वत्व होता है। स्वत्व, स्वतंत्रता एवं अधिकार का संयुक्त प्रकाशन संस्कृति, सभ्यता एवं राष्ट्रीयता है। जिसका विधि में चरितार्थ होना ही व जनवादिता एवं व्यवस्था में प्रभावशील होना ही क्रान्तिकारिता है। विकास की ओर जीवन की अबाधगति स्वत: क्रान्तिकारिता एवं जनवादिता तथा जन्म की अभयता स्वयं में जनवादिता एवं उत्पादनीयता है। यही राष्ट्रीयता की निरन्तरता है।

(सम्पूर्ण लेख हेतु मानवीय राष्ट्रीयता का प्रारूप देखें): available online at www.madhyasth.org